THE TIMES OF INDIA

Date: 09-12-17

A crisis of faith

Rescue Hinduism from extremes of 'secular' vote bank politics and blatant bigotry

Pavan K Varma

As polling begins in Gujarat, an objective observer can easily witness how the pendulum has swung, over the last 70 years, on the relationship between religion and politics. Jawaharlal Nehru candidly described himself as a 'Hindu agnostic' or a 'scientific humanist'. In his autobiography he wrote: "The spectacle of what is called religion, or at any rate organised religion, in India and elsewhere, has filled me with horror … Almost always it seemed to stand for blind belief and reactions, dogma and bigotry, superstition, exploitation and the preservation of vested interests."

In the Gujarat elections Nehru's great grandson, Rahul Gandhi has, by contrast, created a new record – at least by his standards – in the number of temples he has visited. Why has the pendulum towards a display of religious belief oscillated so visibly between two legatees of the same Congress party in the space of these 70 years?To answer this question, it is important to understand that while Hinduism itself is eclectic enough to accommodate Nehru's agnosticism – the Charvaka school of philosophy in Hinduism is openly atheistic – religious faith has always remained a dynamic conditioning factor for the vast majority of Indians. In the early years after 1947, because of Gandhiji's uncompromising belief in the need for coexistence between faiths, and Nehru's emphasis on cultivating a 'modern scientific temper', faith did not degenerate to communalism. If today, things have changed, there are, at least, two important reasons.

The first is a betrayal by the 'secular' political class, and many members of the liberal fraternity. Secularism did not mean that Muslims become a vote bank for electoral gain. Such a policy, and the unnecessary appeasement that was often its consequence, created an opposite reaction even among Hindus who did not wish to be communal.Equally, the upper crust of the liberal class was guilty of a transparent cultural rootlessness that was more ignorant than secular. For the anglicised elite – which has, for instance, probably never read the Ramayana, and which may perhaps be unable even to give a line by line meaning of the national anthem – religion became tantamount to medievalism, and all religious practices the equivalent of ritual and superstition. Such a disdainful dismissal marooned this class in a 'progressive' island of its own, cut off from the religio-cultural impulses that continue to animate the vast majority of Indians.

A second reason is the deliberate communalisation of the social milieu by the Hindutva brigade, again for the purpose of electoral dividends. The planned creation of religious tension to polarise votes along Hindu-Muslim divides has been in evidence for the last several decades, and can be seen in Gujarat

elections as well, where democratic opponents are cynically called 'Khilji ki Aulad', Aurangzeb, and 'Babar Bhakt'. The vitriolic politics being played over the Ram Mandir-Babri Masjid dispute, even when the matter is before the Supreme Court, is further evidence of this malevolent design.All those not 'sufficiently' Hindu, according to the arbitrary definition of illiterate fringe groups, are dismissed as anti-Hindu, as though Hinduism can be straitjacketed according to the dictates of those who actually know very little about what Hinduism really is. Such a dictatorial approach is based on hatred, violence and exclusion, the very opposite of what Hinduism actually stands for.

The manner in which, most recently, a Muslim migrant worker from Bengal was hacked to death and then put to flames, in the name of preventing love jihad, is a grim reminder of where this politics can lead us. Quite apart from the sheer inhumanity of this act, what is forgotten is that there is a directly negative correlation between enduring economic growth and endemic social instability.Hinduism, therefore, needs to be reclaimed, both from the reflex – but rootless – secularists, and from rampant bigotry. This probably explains why parties like Congress want to erode the impression that they are complicit in vote bank politics, and unwarranted appeasement of any one community. That is why we see Rahul Gandhi visiting temples in Gujarat, while still speaking about the need to respect all faiths.

Unfortunately, such a corrective on the part of Congress does not seem to have led to any corresponding introspection on the part of BJP. In fact, the visit of the Congress leader to temples and his declaration that he is proud to be a Hindu, seems to have triggered a frenetic attempt by BJP leaders to discount this avowal of faith, and increase the shrillness of the communal stratum of their electoral campaign.Ultimately, between the polarities of secular vote bank politics and blatant communalism, India must once again embrace the sanity of Mahatma Gandhi. While Gandhiji made no secret of his belief in religion – religious symbols occurred frequently in his writings and public pronouncements – there was not the slightest doubt about his catholic spirit and his respect for all religions.He genuinely believed that religion itself teaches people – even while they profess different faiths – how to live in peace and amity. It is this form of secularism, which is rooted in the civilisational milieu of our country – and not the cynical distortions of it – that must be resurrected if we are to preserve the composite fabric of our nation.

दैनिक भास्कर

Date: 09-12-17

बीटी कॉटन के चक्रव्यूह से बाहर आना होगा

जेनेटिक रूप से सुधारी किस्म कीट से लड़ने में नाकाम, कीटनाशकों के अंधाधुंध प्रयोग से कहर

देविंदर शर्मा

पूर्व वित्त मंत्री और भाजपा के वरिष्ठ नेता यशवंत सिन्हा का महाराष्ट्र के अकोला में कपास, सोयाबीन, धान परिषद के विरोध प्रदर्शन का नेतृत्व करने का निर्णय और फिर उन्हें हिरासत में लेने व रिहाई के नाटक ने लोगों का ध्यान एक छोटे से कीट- पिंक बॉलवर्म द्वारा किए नुकसान की ओर खींचा है। इस छोटे से कीड़े ने देश के सबसे बड़े कपास उत्पादक महाराष्ट्र में 50 फीसदी खड़ी फसलें नष्ट कर दी और 20 फीसदी फसल मध्यप्रदेश में भी नष्ट की। इसके अलावा तेलंगाना, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक और गुजरात में भी व्यापक नुकसान हुआ है।पिक बॉलवर्म का फिर सिर उठाना इतना भयावह है कि देश के कई भागों में किसान एक किलो कपास भी नहीं उपजा पाए। सिर्फ महाराष्ट्र में 30 नवंबर तक 80 हजार से ज्यादा किसानों ने कपास का मुआवजा मांगा। मुख्यमंत्री देवेंद्र फडणवीस ने कपास के नुकसान का मुआवजा देने की सिन्हा की मांग स्वीकार कर ली है तो आने वाले दिनों में प्रभावित किसानों की संख्या और बढ़ सकती है। महाराष्ट्र में कुल 42 लाख हैक्टेयर भूमि पर कपास की खेती होती है, जिसमें से 18 जिलों में 20.36 लाख हैक्टेयर में खड़ी फसल पिंक बॉलवर्म ने नष्ट कर दी है। जहां फसलों के कारण 15,000 करोड़ रुपए का नुकसान होने का अनुमान है वहीं, जिनिंग मिलों के सामने भी इस साल कपास जुटाने का संकट खड़ा हो गया है। महाराष्ट्र की 150 जिनिंग मिलों में से केवल 100 चल रही हैं और वे भी आधी क्षमता का ही इस्तेमाल कर पा रही हैं। उद्योग जगत के अनुसार इस साल कपास निर्यात 20 फीसदी कम होगा। जहां पहले 75 लाख गठानों (प्रत्येक 170 किलो) का अनुमान था वहीं अब यह 60 लाख गठन तक आ गया है।

कीटों को दूर रखने में मॉडिफाइड कॉटन की नाकामी ने भी कई जानें ली हैं। खबरे हैं कि 50 खेतिहर मजदूर कीटनाशकों के संदिग्ध विषैले प्रभाव से मारे गए, जबकि कम से कम 25 मजदूरों को दृष्टि गंवानी पड़ी है और 800 लोग महाराष्ट्र के विभिन्न अस्पतालों में भर्ती किए गए हैं। छह मौतों और कुछ सौ लोगों को अस्पताल में भर्ती किए जाने की खबरें तमिलनाडु के कॉटन बेल्ट से आई हैं। यह त्रासदी मुख्यत: इसलिए हुई, क्योंकि आनुवांशिक रूप से बदली गई बीटी कॉटन की फसल बॉलवर्म का मुकाबला करने में नाकाम रही, जिसका नतीजा यह हुआ कि किसान घातक रसायनों के मिश्रण का छिड़काव करने पर मजबूर हुए।मुझे लगता है भारतीय किसान अभिमन्यू जैसी स्थिति से गुजर रहा है। उसे चक्रव्यूह में जाने पर मजबूर किया गया पर वह बाहर निकलना नहीं जानता। एक वरिष्ठ कृषि वैज्ञानिक ने मुझे एक बार कहा था, '1960 के दशक की शुरुआत में कीटनाशकों की केवल छह से सात किस्में कपास उत्पादक किसान को परेशान करती थीं। आज किसान 70 प्रमुख कीटों से संघर्ष कर रहा है।' कीटों का जितना व्यापक हमला होता है, उतना ही घातक रसायनों का उपयोग व दुरुपयोग होता है। काफी धूमधाम के साथ 2002 में बीटी कॉटन जारी होने के सिर्फ चार साल बाद ही कपास की यह किस्म उस कीट के सामने कमजोर पड़ गई, जिससे सुरक्षित होने की इससे अपेक्षा थी। मोनासेंटो-महायको द्वारा लाई गई यह जीएम फसल की पहली पीढ़ी थी। 2006 में पहली पीढ़ी के जेनेटिक रूप से परिष्कृत कपास की जगह और भी अधिक कारगर बॉलगार्ड-2 ने ले ली। जैसे-जैसे बोलगार्ड-2 का इलाका बढ़ा, नागपुर स्थित सेंट्रल इंस्टीट्यूट फॉर कॉटन रिसर्च ने चेतावनी की घंटी बजाई। 'बोलगार्ड-2 को प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है। हमने कपास खाने वाले कुछ कीट पाए हैं।' तब के सीआईसीआर डायरेक्टर केशव क्रांति ने मीडिया को ऐसा बताया था। यह 2015 की बात है। तभी बीटी कॉटन की किस्मों का विनियमन कर देना था। लेकिन, ऐसा कुछ नहीं हुआ।

यहां तक कि इससे भी पहले 2014 में रायचुर के कॉटन बेल्ट में 80 फीसदी फसलें नष्ट होने की खबरें थीं, जिससे अंदाजन 40 लाख रुपए का नुकसान हुआ था। 2015 में बोलगार्ड-2 कर्नाटक में फसलों को बचाने में नाकाम रहा, जिससे बहुत नुकसान हुआ। इतने बरसों में कीटनाशकों के जरूरत से ज्यादा प्रयोग से कीटों का संतुलन बिगड़ गया है, नतीजतन कुछ छोटे कीट भी बड़ी समस्या बन गए हैं। कीटों में यह विचलन पंजाब (हरियाणा व राजस्थान में भी) में देखा गया जब व्हाइट फ्लाई ने कपास की दो-तिहाई फसल नष्ट कर दी और अंदाजन 800 करोड़ रुपए का नुकसान हुआ तथा 15 किसानों ने आत्महत्या कर ली। बोलगार्ड-2 के दिनों से कीटनाशकों का जो प्रयोग 2006 में 0.5 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर था वह 2015 में 1.20 किलोग्राम हो गया। भारतीय कपास सलाहकार बोर्ड ने अनुमान लगाया कि 2002 में बीटी कॉटन लाए जाने के बाद से कपास की उपज की लागत तीन गुना बढ़ गई है। उसी अवधि में कॉटन बेल्ट में किसानों की आत्महत्या में तेजी आई। लेकिन, मुझे किसानों को इस चक्रव्यूह से बाहर निकालने का कोई गंभीर प्रयास दिखाई नहीं देता।संकट से निकलने के दो संभावित रास्ते हैं। पहला और प्रमुख यह है कि किसानों को जो भी नुकसान हुआ है, उसकी भरपाई बीज कंपनियां करें। महाराष्ट्र सरकार ने बीजों की पांच कंपनियों के खिलाफ एफआईआर दर्ज की है पर मुआवजे का बोझ सरकार पर नहीं आना चाहिए। मैं शरद पवार की इस बात से सहमत नहीं हूं कि सरकार को मुआवजा देना चाहिए। बीटी कॉटन के बीज बनाने वाले को नुकसान की भरपाई करनी चाहिए। सीड एक्ट में यह एकदम स्पष्ट किया जाना चाहिए।

दूसरा, बोलगार्ड-3 की तीसरी पीढ़ी की किस्में लाने और मौजूदा संकट को और जटिल बनाने की बजाय कृषि शोध को वैकल्पिक तरीकों पर अपना ध्यान लगाना चाहिए। कृषि विश्वविद्यालयों को जीएम कॉटन पर और आगे शोध न करने के निर्देश दिए जाने चाहिए। उन्हें बायो-कंट्रोल और इंटीग्रेटेड पेस्ट मैनेजमेंट तकनीकों पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए, जिनमें अंतिम उपाय के रूप में ही तथा वह भी बहुत कम मात्रा में कीटनाशकों का प्रयोग किया जाता है। बुर्किना फासो ने पहले ही दिखा दिया है कि बीटी कॉटन से मुक्ति पाने के बाद कपास उत्पादन 20 फीसदी बढ़ गया। तुर्की ने भी आईपीएम तकनीक से अच्छे नतीजे पाए हैं। जीएम कॉटन को खारिज करने के साथ रासायनिक कीटनाशकों के सीमित प्रयोग से तुर्की ने कपास का उत्पादन दोगुना कर लिया है।

Live हिन्दुस्तान.com

Date: 08-12-17

आग में घी डालने वाला कदम

हर्ष वी पंत प्रोफेसर, किंग्स कॉलेज, लंदन

ऐसे दौर में, जब बात-बात पर स्थितियां तनावपूर्ण बन जाती हों, अमेरिका का यह कदम आग में घी डालने वाला है। अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने दशकों से जारी अमेरिकी कूटनीति की दिशा को बदलते हुए यरुशलम को इजरायल की राजधानी घोषित कर दिया है। इस कारण पश्चिम एशिया में तनाव की एक नई पटकथा तैयार हो गई है, जबकि यह इलाका पहले से ही कम अशांत नहीं है। ट्रंप प्रशासन का यह फैसला आने वाले वर्षों में क्षेत्रीय राजनीति की दशा-दिशा पर भी दूरगामी असर डाल सकता है।राजधानी के रूप में यरुशलम के काम करने में अभी कई वर्ष लगेंगे। हालांकि उसे राजधानी की मान्यता देने की घोषणा करते समय राष्ट्रपति ट्रंप ने कहा कि वह 'अतीत की असफल नीतियों' को किनारे कर रहे हैं। देश-दुनिया से मिल रही तमाम चेतावनियों को नजरअंदाज करते हुए उन्होंने कहा कि उनकी नजर में 'यह कदम अमेरिका के हित में है और इससे इजरायल व फलस्तीनियों के बीच शांति की राह आसान होगी'। उन्होंने यह भी कहा कि 'हम अतीत की विफल नीतियों और धारणाओं को दोहराकर समस्याओं का समाधान नहीं निकाल सकते'। ट्रंप ने इस मौके पर इजरायल-फलस्तीन विवाद के निपटारे के लिए 'दो राष्ट्रों' के समाधान की फिर से वकालत भी की।

अमेरिका के इस कदम पर मिली-जुली प्रतिक्रियाएं आई हैं। इजरायली प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतन्याहू ने कहा है कि यह एक ऐतिहासिक दिन है और इजरायल तहे दिल से राष्ट्रपति ट्रंप का आभारी है। वहीं, फलस्तीनी राष्ट्रपति महमूद अब्बास ने दोहराया है कि यरुशलम 'फलस्तीन की अखंड राजधानी था और है'। उन्होंने यह भी कहा कि 'इस तरह के निंदनीय व अस्वीकार्य कदमों से शांति स्थापना की कोशिशों को जान-बूझकर कमजोर किया जा रहा है और यह दशकों से चली आ रही मध्यस्थता के बाद शांति समझौते में अमेरिकी भूमिका से पीछे हटने की शुरुआत के घोषणापत्र जैसा है।' अमेरिकी हितों के खिलाफ पश्चिम एशिया के मुसलमानों को एकजुट होने का आह्वान करते हुए हमास ने भी ट्रंप पर 'खतरनाक आक्रामकता' का आरोप लगाया है।अमेरिका के सहयोगी देशों ने भी इस फैसले की मुखालफत की है। यूरोपीय संघ की विदेश नीति मामलों की प्रमुख फेडरिका मोगहेरिनी ने यूरोप के दौरे पर आए अमेरिकी विदेश मंत्री से बात की और अमेरिकी दूतावास के यरुशलम लाने के फैसले की कड़ी आलोचना की। ब्रिटिश प्रधानमंत्री थेरेसा मे ने भी अमेरिकी फैसले पर खुलकर नाराजगी जाहिर की और कहा कि यह कदम 'क्षेत्र में शांति कायम करने में कतई मददगार नहीं है'। फ्रांस के प्रधानमंत्री इमैन्युएल मैक्रां भी इस फैसले में अमेरिका के साथ नहीं हैं। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के कुल 15 सदस्यों में से आठ ने तो इस हफ्ते के अंत में इसे लेकर एक आपात बैठक भी बुलाई है।

सबसे दिलचस्प बात यह है कि पूरी अमेरिकी हुकूमत खुद इस फैसले पर एकजुट नहीं दिखती। रक्षा मंत्रालय पेंटागन और विदेश मंत्रालय पूरी तरह इस फैसले के साथ नहीं हैं। अमेरिकी विदेश मंत्रालय की प्रवक्ता हीथर नॉर्ट ने साफ-साफ इस फैसले का बचाव करने से इनकार कर दिया और कहा कि 'यह मसला राष्ट्रपति पर निर्भर करता है'। चूंकि ऐसे हालात में हिंसा हो सकती है, इसलिए पेंटागन आकस्मिक योजनाओं के तहत बढ़ते सैन्य खतरों से निपटने की तैयारी में जुट गया है। एहतियातन अमेरिकी मरीनों की अतिरिक्त टीमें पश्चिम एशिया के कई अमेरिकी दूतावासों पर भेजी जा चुकी हैं।आखिर ऐसा फैसला लेने के पीछे मंशा क्या है? इसका जवाब उतना ही जटिल है, जितना यह मसला। यही वजह थी

कि एक के बाद आई दूसरी तमाम अमेरिकी सरकारों ने यथास्थिति में कभी, किसी तरह की छेड़छाड़ नहीं की। यरुशलम यहूदी, इस्लाम और ईसाई धर्मावलंबियों का एक पवित्र स्थान है। इसकी स्थिति क्या रहनी चाहिए, यही इजरायल-फलस्तीन विवाद का सबसे संवेदनशील पहलू है। फलस्तीनी नेताओं की नजर में शांति तभी संभव है, जब पूर्वी यरुशलम में उनकी अपनी राजधानी हो। वर्ष 1967 में छह दिनों के युद्ध के बाद पूर्वी यरुशलम पर इजरायल ने कब्जा भले कर लिया था, पर इसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इजरायल के हिस्से के रूप में कभी मान्यता नहीं मिली। सभी देशों ने भी अपने दूतावास तेल अवीव में ही बना रखे हैं।

अमेरिकी संसद कांग्रेस ने 1995 में 'यरुशलम एम्बेसी ऐक्ट' पारित किया था, जिसमें एक तय समय सीमा के अंदर अमेरिकी दूतावास को तेल अवीव से यरुशलम ले जाने की बात है। मगर अमेरिकी राष्ट्रपतियों ने 'अमेरिका के राष्ट्रीय हितों की रक्षा में' अब तक इसका अमल टालने में ही भलाई समझी और इसे रोकने के हर छह महीने पर एक अस्थाई प्रावधान लाया जाता रहा है। लेकिन राष्ट्रपति ट्रंप ने यरुशलम को राजधानी का दर्जा देकर सब कुछ बदल डाला है। शायद उनके लिए यह अपने चुनाव अभियान के दौरान किए गए एक वादे को पूरा करने जैसा है। हालांकि उन्होंने 'दो राष्ट्रों' के सिद्धांत पर इस मसले का हल निकालने की अमेरिकी प्रशासन की प्रतिबद्धता पर जोर दिया है, मगर अब यह दोनों पक्षों के आपसी समझौते पर निर्भर हो गया है। अमेरिकी इसी वजह से इसे शांति प्रक्रिया में अमेरिका के तटस्थ खिलाड़ी बने रहने की नीति को कमजोर करने के रूप में देख रहे हैं। संभव है, चीन और रूस इस शून्य को भरने की दौड़ में कूद पड़ें।

व्यापक क्षेत्रीय स्तर पर देखें, तो सऊदी अरब के शहंशाह सलमान ने कहा है कि यह कदम 'दुनिया भर के मुसलमानों के अंदर आक्रोश बढ़ाएगा'। हालांकि यह अभी तक साफ नहीं हुआ है किसऊदी अरब और अमेरिका के रिश्तों में इससे किस तरह की खटास आने वाली है। अतीत में, अमेरिका के अरब सहयोगियों का इजरायल के साथ आधिकारिक या गुप्त संबंध रहा है। आज भी, ईरान से मिलने वाली कथित चुनौती का सामना करने के लिए सऊदी-इजरायल और अमेरिका का गठजोड़ परवान चढ़ रहा है। तमाम बयानबाजियों के बावजूद, फलस्तीन का मसला अरब दुनिया के लिए प्राथमिकता में नहीं रहा है। वे घरेलू नाराजगी को शांत करने के लिए बेशक कुछ शोर मचाएं, पर इससे ज्यादा वे शायद ही कुछ करें। इससे कहीं बड़ी समस्याएं उनके सामने खड़ी हैं। अब नई दिल्ली को अलग ही चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा। उसे न सिर्फ इजरायल के साथ अपने सामरिक हितों के बारे में सोचना होगा, बल्कि फलस्तीनियों को समर्थन देने की अपनी नीतियों पर भी आगे बढ़ना होगा।

Date: 08-12-17

अंतिम तारीख

संपादकीय

सरकार ने आधार को कई जरूरी सेवाओं, खासकर बैंक खाते से जोड़ने की अंतिम तारीख बढ़ा दी है। पहले लोगों को 31 दिसंबर की तारीख दी गई थी कि तब तक वे अपने बैंक खाते से अपने आधार नंबर को जोड़ लें। अब सुप्रीम कोर्ट में केंद्र सरकार की तरफ से पेश हुए अटार्नी जनरल केके वेणुगोपालन ने बताया है कि यह तारीख बढ़ाकर 31 मार्च कर दी गई

है और इसके लिए जल्द ही सरकारी अधिसूचना भी जारी कर दी जाएगी। लोगों को अपने बैंक खाते के अलावा मोबाइल नंबर, बीमा पॉलिसी, भविष्य निधि खाते, पैन नंबर जैसी कई चीजों को भी आधार नंबर से जोड़ना जरूरी कर दिया गया है। इन सबके लिए अंतिम तारीख अलग-अलग है। मसलन, मोबाइल फोन को आधार नंबर से जोड़ने की आखिरी तारीख 6 फरवरी है। इन अलग-अलग तारीख की वजह से भ्रम की स्थिति भी पैदा हो गई है, इसलिए अच्छा यही होता कि ऐसे सभी मामलों में अंतिम तारीख एक ही कर दी जाती। भ्रम किस तरह का है, यह उस समय जाहिर हुआ, जब सुप्रीम कोर्ट में अटार्नी जनरल के बयान के बाद भी आधार जारी करने वाली संस्था उदय ने यही कहा कि अंतिम तारीख में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। यह ठीक है कि यह संस्था अंतिम तारीख में बदलाव की बात अधिसूचना जारी होने के बाद ही आधिकारिक रूप से कह सकती थी, लेकिन ऐसे मामलों में भ्रम से बचने के लिए जिस सावधानी की जरूरत थी, वह नहीं बरती गई।

वैसे केंद्र सरकार अगर अधिसूचना जारी कर देती है, तो भी इसका अर्थ यह नहीं होगा कि सेवाओं को आधार से जोड़ने पर कोई अंतिम फैसला हो चुका है। सुप्रीम कोर्ट अभी भी इस मसले पर विचार कर रहा है, जहां बहुत सारे लोगों ने ऐसी याचिकाएं दायर की हैं कि आधार से लोगों की निजता का उल्लंघन होता है। अदालत ने इस मामले की सुनवाई के लिए सांविधानिक पीठ बनाने की बात कही है। जाहिर है कि वहां यह मामला अभी लंबा चलेगा। लेकिन इस बीच सरकार ने तय किया है कि वह सेवाओं को आधार से जोड़ने के एजेंडे पर अपने तय कार्यक्रम के अनुसार ही चलेगी। यानी आपको अंतिम तारीख से पहले ही अपने आधार नंबर को इन सेवाओं से जोड़ना पड़ेगा। इसके औचित्य की बहस इससे अलग सर्वोच्च अदालत में चलती रहेगी। अंतिम तारीख बढ़ाना सरकार की इसी योजना का एक हिस्सा भी हो सकता है, क्योंकि यह पूरा आयोजन बहुत वृहद है। ऐसा कहा जाता है कि इस समय देश की 99 फीसदी वयस्क आबादी का आधार रजिस्ट्रेशन हो चुका है और इस लिहाज से यह शायद दुनिया की सबसे बड़ी योजना भी हो। इसलिए अंतिम तारीख बढ़ाने में कुछ भी हैरत की बात नहीं है। ऐसे में, ध्यान यह रखा जाता है कि लोगों को इसके ज्यादा से ज्यादा मौके दिए जाएं।

जहां तक आधार से निजता के उल्लंघन की बात है, तो यह तर्क नया नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि वह पूरी तरह से बेदम हो। अगर दुरुपयोग का थोड़ा सा भी शक हो, तो पूरी पड़ताल होनी ही चाहिए। जाहिर है, सुप्रीम कोर्ट इसके लिए सबसे अच्छा मंच है। खासतौर पर इसलिए भी कि मामला नागरिक अधिकारों से जुड़ा है। सर्वोच्च अदालत पहले ही निजता को नागरिक का मूल अधिकार मान चुकी है, ऐसे में निजता के उल्लंघन का अर्थ होगा, मूल अधिकार का उल्लंघन। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं होगा कि पूरे के पूरे आयोजन को ही रद्द कर दिया जाए। इसका अर्थ होगा, सरकार की चुनौती का बढ़ जाना। उसे ऐसे तरीके खोजने होंगे, जिससे निजता पर भी आंच न आए और लक्ष्य भी हासिल हो जाए। यह सबके लिए अच्छा होगा- नागरिकों के लिए भी और सरकार के लिए भी।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 08-12-17

Fields of despair

Peasant mobilisations have achieved very little because of the urban bias of the BJP

Christophe Jaffrelot, [The writer is senior research fellow at CERI-sciences po/CNRS, Paris and professor of politics and sociology at King's Institute, London]

"Bharat vs India", a phrase coined by Charan Singh to describe the conflict between villages and cities, remains relevant. This is evident from the Kisan Sansad (farmers' parliament) that met in Delhi last month. More than 40,000 peasants belonging to 180 farmers' organisations came together to form the All India Kisan Sangharsh Coordination Committee (AIKSCC).Rural India has lagged behind the cities since the 1991 economic reforms. According to the National Sample Survey, the average Monthly Per Capita Expenditure (MPCE) in 1993-94 was Rs 281 in rural India and Rs 458 in urban India. It rose to Rs 772 (up 174 per cent) and Rs 1,472 (up 221 per cent) for rural and urban India respectively in 2007-08, which means that the gap between rural and urban jumped from 63 to 91 percentage points. The gap diminished somewhat between 2007-08 and 2011-12, with rural MPCE reaching Rs 1,430 (up 85 per cent) as an average and the urban rising to 2,630 (up 79 per cent), but it remained more than 20 percentage points higher than what it was in 1993-94 at 84 percentage points.

This is partly due to the slow growth of agriculture over the last decade. Between the years 2005-06 and 2011-12, the average annual growth rate of industry at constant 2004-05 prices has been 7.5 per cent, while services grew at an ever-quicker pace, 9.95 per cent. However, agriculture lagged behind at 3.8 per cent. In the following three years, 2012-2015, the average agricultural GDP growth rate was 1.7 per cent. In 2014-15, the growth rate of agriculture was negative at – 0.2 per cent. It was only 1.1 per cent in 2015-16 and, thanks to a good monsoon, about 4 per cent in 2016-17, the growth rate the five-year plan considered as necessary to ensure food security.

Different factors are responsible for these changes. First, the size of holdings has shrunk over the years: The average land owned by peasants fell from 0.725 ha to 0.592 ha between 2002-03 and 2012-13. As a result, the proportion of those owning less than one ha increased from 79.7 per cent to 82.8 per cent. Since a farm household needs at least 1 hectare of land to make ends meet, over half of the farmers are in debt: The average loan amount for a farm household in India today is Rs 47,000. Second, irrigation has stagnated with less than half of Indian farmland irrigated, partly because of the groundwater crisis: Water tables fell by 65 per cent in 10 years. Third, peasants suffer from one obsession of the government: The price of food. To neutralise any risk of inflation on that front, the growth rate of rural wages has been limited — in 2015, it was the lowest in 10 years (and lower than the inflation rate). That was related to the squeezing of the MGNREGA programme, which was blamed for rising rural wages. But more than wages, food prices were targeted. To spare urban consumers, they were kept low and the government even precipitated food prices deflation by allowing imports. Soyabean is a case in point, when this year market was flooded with cheap soyabean oil imports. Though the government can impose duty up to 45 per cent, but it kept the rate at 12.5 per cent.

In 2017 summer, farmers across India started agitating for better prices. They wanted the M.S. Swaminathan Commission report, which recommended minimum support prices, to be implemented. Maharashtra farmers demanded better prices for onions and other pulses; in Himachal Pradesh, it was for tomatoes; in Punjab and Haryana, it was potatoes and maize; in Rajasthan, garlic; in Gujarat, groundnuts; in Madhya Pradesh, soyabean; in Andhra, Telangana and Karnataka, chilli and so on. In June, when Maharashtra farmers, who were on strike, took out a march to Mumbai, the BJP government agreed to a Rs 30,000-crore loan waiver. The protest spread to Madhya Pradesh, where five people were killed in Mandsaur district in police firing. Farmers mobilised also because of demonetisation, which badly

affected rural India.Though the agitation fit the traditional pattern of kisan politics, the mobilisations, unlike in the previous decades, achieved little. Loans were waived for peasants, mainly in Maharashtra and UP. However, this measure didn't help much. The procedure to receive reimbursement is bureaucratic and the amount waived is sometimes minimal (Rs 10 to Rs 500). Besides, only a third of the small and marginal farmers have access to institutional credit: Banks do not lend money to the poor. The others turn to money lenders, who do not waive loans. Besides, loan waiver is only a temporary relief.

Why did the peasant mobilisations achieve so little? The reason could be the "urban consumer bias" of the BJP, the new political hegemon. The party has turned its back to the Gandhian dimension of Deendayal Upadhyaya's Jana Sangh and is focussed on urban development, as evident from the smart cities flagship programme. It sees industrialisation as the best way to modernise India and create jobs. More urban dwellers supported the party than villagers in the 2014 election — by 10 percentage points, according to the CSDS-Lokniti survey. The urban bias of the government was obvious in its attempt to amend the Land Acquisition, Rehabilitation and Resettlement Act, 2015 in favour of industrialists. When the Opposition forced the government to backtrack, Prime Minister Modi invited the states to reform and the BJP-ruled states were the first to change the law.Budget cuts have reduced the spending on the Rashtriya Krishi Vikas Yojana and the Integrated Watershed Management Programme and Accelerated Irrigation Benefits and Flood Management Programme. In this context, it isn't surprising that 40 per cent of Indian farmers do not like to farm any more. Hence the demand among young Patels, Marathas, Jats and Kapus for reservations in the (urban) public sector.

Date: 08-12-17

An Oversight Problem

For now, Parliament is ill-equipped to oversee economic issues in an integrated way

Chakshu Roy, [The writer is head of Legislative and Civic Engagement, PRS Legislative Research]

In a piece for these columns, ('Give accountability a chance', IE, December 2) Surjit Bhalla suggested that the RBI governor should testify before Parliament twice a year and raised the issue of parliamentarians asking the right questions to the governor. His column, therefore, raises broader questions about Parliament's ability to oversee macroeconomic challenges facing the country.Currently, there is limited debate in Parliament on macroeconomic and monetary policy issues. Parliament uses two mechanisms for monitoring the national economy. The first is a debate in the House, the second is through committees. The first is the most common way of highlighting issues. But there is hardly ever a focussed debate on the economy in Parliament. The last time a discussion reviewed the economic situation was in 2008 and lasted for five hours in Lok Sabha. The subject is usually brought up during the debate on the Union budget, and over the years the duration of budget discussions has been steadily decreasing. During Parliament's first decade, the debate on the budget lasted for an average of 123 hours. In the last decade, this number has come down to 40 hours.

The other occasion when economic issues come up for discussion is when MPs are locking horns debating rising prices in the country. During the last decade, it is a subject which forms part of Parliament's agenda almost every year. The debate on it remains inconclusive and follows a familiar pattern of ascribing

blame and political rhetoric.The second forum for discussing the health of the economy is parliamentary committees. These committees focus on holding specific government ministries accountable. They scrutinise the finances, legislation, and working of ministries. Their mandate does not extend to scrutinising cross-cutting macroeconomic issues. For example, in the last 10 years, the governor and the deputy governors of RBI have testified at least 15 times before the committee on finance. Their testimony was always limited in scope since the committee mostly examines policy issues and legislation being dealt with by the finance ministry. It is only on one occasion that their testimony was on the overall economic situation. Parliament has three finance committees — the Public Accounts, Estimates, and Public Undertakings committee.

Therefore, the existing parliamentary mechanisms are limited. They have ensured that Parliament does not have a handle on the economic situation in the country. The institution requires a specialised committee concentrating on the broader economic issues facing the country. Other parliaments have such committees. The US Congress has a committee of both Houses called the Joint Economic Committee. It reviews economic conditions and recommends improvement in policy. The House of Lords in the UK has an Economic Affairs Committee. Its role is to consider economic affairs and it is currently inquiring into the impact of Brexit on Britain's labour market. The idea of such a committee is not new for our country.

In 2002, the national commission to review the functioning of the constitution highlighted the absence of a parliamentary committee to oversee major economic issues in an integrated manner. The commission recommended the setting up of a Nodal Standing Committee on National Economy supported with adequate resources.The commission envisioned that the committee would conduct an ongoing analysis of the national economy. It was of the opinion that the findings of this committee "would help both government and parliament in orchestrating opinion on important policy issues for building a national consensus."If such a committee is constituted it could invite the RBI Governor and other government functionaries like the chief economic adviser to testify and enrich its proceedings. With a broad mandate of examining the national economy it would be able to connect and comment on a range of interconnected policy issues impacting the economy.

Date: 08-12-17

Religion over law

Neither side in the Babri Masjid case is keen on a judicial solution. So far, the courts themselves have, troublingly, adopted an approach that privileges religious sentiment

A G Noorani, [The writer is a constitutional expert and commentator]

One is at a loss to understand why the Supreme Court took up for hearing appeals in the highly-charged Babri Masjid case. In truth, neither side is keen on a judicial intervention, whatever they may say in public. The BJP said so when it raised the issue in its Palampur Resolution of June 11, 1989: "It just cannot be sorted out by a court of law. A court of law can settle issues of title, trespass, possession etc. But it just cannot adjudicate as to whether Babar did actually invade Ayodhya, destroy a temple and build a mosque

in its place. .. The sentiments of the people must be respected and Ram Janmabhoomi handed over to the Hindus — if possible through a negotiated settlement, or else by legislation. Litigation certainly is no answer".However, since 1950, both sides have pursued their cause in civil suits raising issues of law and fact; on title and adverse possession. Significantly, on June 11, 1989 itself, L. K. Advani said, "I am sure it will translate into votes" in the 1989 election.

Two precedents are apposite. On May 2, 1940 the Privy Council rightly rejected the Muslims' claim to the Shaheedganj Mosque, though a deed of dedication of 1722 existed. But from 1762, the structure was occupied by the Sikhs. The Privy Council ruled, "It is impossible to read into the modern Limitation Acts any exception for property made waqf for the purposes of a mosque". It held the scales evenly. "There has never been any doubt that the property of a Hindu religion's endowment — including thakurbari — is subject to the law of limitation". The Privy Council deprecated introduction of "expert advisers" and ancient texts.

So, did the Supreme Court on 16 April 2004 in Karnataka Board of Wakf vs. Government of India and Others (2004): "As far as a title suit of civil nature is concerned, there is no room for historical facts and claims." The Mecca Masjid was built by a saint in the 14th century. The Government of India acquired it in 1900 under the Ancient Monuments Preservation Act, 1904 (later the Ancient Monuments and Archaeological Sites and Remains Act, 1958). The Muslims' suits on title were dismissed on the principle of adverse possession by the government. The Shaheedganj Gurudwara still stands tall in Lahore.

The Allahabad High Court not only ignored these rulings, giving primacy to faith over law, but flouted a unanimous ruling of the Supreme Court in 1994. The Babri Masjid has existed at Ayodhya since 1528. It was demolished on December 6, 1992. Parliament enacted the Acquisition of Certain Area at Ayodhya Act, 1993. On January 7, 1993 the president sought the Supreme Court's advisory opinion. Section 4(3) of the Act abated all pending suits in respect of the Masjid. This was struck down unanimously by the five judges on the ground that it wiped out the Muslims' case on adverse possession, even assuming that a temple existed on the site formerly. The court declined to give the advisory opinion.A full bench of the Allahabad High Court went against these rulings. The president's question rejected by the Supreme Court read: "Whether a Hindu temple or any Hindu religious structure existed prior to the construction of the Ram Janma Bhumi-Babri Masjid … in the area on which the structure stood?" (Ismail Faruqui & Ors. vs. Union of India & Ors. [1994] 6 SCC 360, page 385). Yet, the Allahabad High Court ordered the Archaeological Survey of India (ASI) on 5 March 2003 to answer: "Whether there was any temple/structure which was demolished and mosque was constructed on the disputed site?" On that single ground of defiance, the High Court's judgments invite a clear rejection by the Supreme Court. The case can then proceed, if at all, strictly on the facts and the law.

By a weird order on September 30, 2010, Justices Sibqghat Ullah Khan and Sudhir Agarwal ordered a tripartite partition of the masjid. The portion where Shri Ram's idol is kept is given to Hindus, the Nirmohi Akhara gets a portion including the Ram Chabutra and Sita Rasoi and Muslims get the leftovers. No defined area is assigned to them. Justice Dharam Veer Sharma rejected the Muslims' case in toto.When the appeals came up for admission on May 9, 2011 Justices Aftab Alam and R. M. Lodha found the judgment "strange". No one had asked for the partition. This stemmed from the high court's basic approach in giving primacy to religion over the law of the land. Religious texts were quoted to prove that the masjid was no masjid in the Islamic law and the Hindu religion prevailed over the law of limitation. Agarwal and Sharma held that the masjid was erected on the site of a demolished temple. "The rule of adverse possession is not applicable according to Hindu law".

They two judges held: "Once we find that by way of faith and traditions, Hindus have been worshipping the place of birth of Lord Rama at the site in dispute, we have no reason but to hold in a matter relating to such a kind of historical event that for all practical purposes, this is the place of birth of Lord Rama."This approach inspired Agarwal and Sharma's deep excursion into the past, beginning with Mohammed bin Qasim's invasion in 712. A litany of "Muslim" outrages followed. "Attack, demolition and construction of mosques and madarsas in place of temples and religious institutions had taken place for the last about 1,100 years," Sharma said. Agarwal clutched at a book by an Austrian traveler Josef Tiefenthaler who had visited the site around 1766, quoting him profusely and crediting him with identifying Ram's place of birth. Agarwal called him an "Australian Christian priest" and agreed with him that it was not Babar's general Mir Baqi but Aurangzeb who built the Babri Masjid. The book based this on hearsay. "Others say that it was constructed by Babar," it noted.The Narendra Modi Government seeks to use the courts to enforce the BJP's triple agenda — uniform civil code, abrogation of Article 370 and a Ram temple at Ayodhya. It will not enforce the Supreme Court's verdict in case it goes in favour of Muslims. Its eyes are set on the 2019 elections.

THE HINDU

Date: 08-12-17

Capital crisis

By recognising Jerusalem as Israel's capital, the U.S. has endangered the peace process

EDITORIAL

U.S. President Donald Trump's decision to recognise Jerusalem as the capital of Israel, despite warnings at home and abroad, will worsen the Israel-Palestine conflict. Jerusalem, which houses holy places of all three Abrahamic religions and is claimed by both Israelis and Palestinians, is at the very heart of the dispute. Israel built its seat of power in West Jerusalem decades ago and occupied the East during the 1967 war, and later annexed it. Palestinians insist that East Jerusalem should be the capital of their future state. Even though there is a Congressional resolution in the U.S. urging Washington to relocate its embassy from Tel Aviv to Jerusalem, previous American Presidents avoided doing so given the legal, ethical and political implications of the issue, besides their commitment to a negotiated two-state settlement. By breaking with this consensus, Mr. Trump has in effect endorsed the Israeli claims to East Jerusalem. The decision will likely help him bolster his image among the Jewish lobby in Washington as well as American evangelical groups, his social base. Israel is obviously happy. Though Arab countries have voiced protest, they are unlikely to challenge an American decision. Mr. Trump's move raises vital questions about U.S. diplomacy in the region besides putting new roadblocks in the peace process. It could be viewed as illegal as the Israeli claim that Jerusalem "complete and united" is its capital has been declared "null and void" by UN Security Council Resolution 478, which also asks member-countries to "withdraw diplomatic missions from the Holy City". The U.S. is now acting against the spirit of this resolution.

The Jerusalem gambit risks triggering another cycle of protests and repression in the Occupied Territories. In 2000, Ariel Sharon's visit to the al-Aqsa compound in the Old City sparked the second intifada. Palestinians are expressing similar distress today. The peace process is not going anywhere, while Israel has gradually been tightening its occupation and building new settlements. Hamas has already called for a third intifada. In the longer term, Mr. Trump has just made the two-state solution more complicated. The Israeli-Palestine conflict can be settled only after an agreement is reached on the status of Jerusalem. The city was not part of Israel in the original 1947 UN plan to partition Palestine. Jerusalem, which was supposed to be ruled by an international trusteeship, was conquered by Israel. This is why the UN has not recognised it as Israel's capital. With his latest announcement, Mr. Trump has endorsed the occupation. And in doing so, he has undermined the U.S.'s position as a neutral broker in Israeli-Palestinian talks. In short, he has dealt a blow to the peace process.

Date: 08-12-17

Defection, disaffection

The Tenth Schedule is meant to curb opportunistic party-hopping, not stifle dissent

EDITORIAL

The disqualification of dissident Janata Dal (United) leaders Sharad Yadav and Ali Anwar as members of the Rajya Sabha was done in needless haste. Even if it did not violate the letter of the anti-defection legislation, the Chairman of the Rajya Sabha, Vice-President M. Venkaiah Naidu, could have considered whether it militated against its spirit. In his order, he cited the time-consuming procedural requirements as the justification for not referring the issue to the committee of privileges. Mr. Naidu took the view that all such cases should be disposed of within three months as any delay would be tantamount to subverting the anti-defection law. But neither Mr. Yadav nor Mr. Anwar posed a threat to any government to warrant such fast-tracking of the disqualification process. The decision under the Tenth Schedule of the Constitution was sought to be justified on the basis of the argument that the two members voluntarily gave up the membership of their party when they attended political rallies organised by rival parties. Mr. Naidu went by the fact that the faction led by Mr. Yadav did not command a majority within the JD(U) legislature party in the Rajya Sabha. Quite correctly, he did not accept the contention of the two members that it was the JD(U) leader Nitish Kumar who had given up membership of the party by quitting the Mahagathbandhan, the grand political alliance that had brought the party to power in Bihar. It is current political affiliation and not past electoral alliance that is relevant to the disqualification process. However, neither Mr. Yadav nor Mr. Anwar had disobeyed a whip or posed a danger to the stability of any government. Given this, the Rajya Sabha Chairman could have taken the assistance of the privileges committee before deciding the case. It is the fact that he did not exhaust all the procedural avenues before him that has left him open to charges that his ruling has a political hue.

The JD(U) order is the latest in a long list of contentious decisions on disqualification by presiding officers. In many State Assemblies, such disqualification proceedings have had an impact on the very survival of the government, most recently in Tamil Nadu and Uttarakhand. Invariably, presiding officers take a politically partisan view, necessitating judicial intervention. India's party-based parliamentary democracy requires MPs and MLAs to strike a fine balance between their roles as representatives of the

people and of a political party. As members of the legislature are elected by votes sought in their own name and in the name of their party, the provisions of the Tenth Schedule should not be misused to stifle dissent, whether inside or outside the House. The anti-defection law works best as an insurance against violation of the people's mandate for a party, but it cannot be made a tool to stifle all dissent.